जैन-न्याय का पुनर्वीक्षण

☐ डा० संगमलाल पाण्डेय
M.A., Ph.D.
[रीडर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय]

☐

बीसवीं शती के नैयायिकों ने सिद्ध कर दिया है कि न्यायशास्त्र या लाजिक का सीधा सम्बन्ध किसी विशेष तत्त्वमीमांसा या मेटाफिजिक्स से नहीं है। न्यायशास्त्र तत्त्वमीमांसा से स्वतन्त्र है और वह एक आकार शास्त्र (फार्मल साइन्स) है। जब भारतीय विद्वानों ने कहा था कि '**काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्**' अर्थात् न्यायशास्त्र (कणाद-तर्कशास्त्र) और व्याकरण (पाणिनी-व्याकरण) सभी शास्त्रों के उपकारक हैं, तब उनका भी यही अभिप्राय था। जैसे व्याकरणशास्त्र सभी प्रकार के दर्शनों का उपकारक है वैसे ही तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र भी उन सबका उपकारक है। संक्षेप में सभी दर्शनों का एक ही न्यायशास्त्र है, जैसे उन सभी का एक ही व्याकरण है। अतः दर्शनों की विविधता से न्यायशास्त्र की विविधता नहीं सिद्ध होती है।

परन्तु मध्ययुग में साम्प्रदायिकता का बोलबाला होने के कारण भारत के प्रसिद्ध दर्शनों ने अपना-अपना तर्क-शास्त्र भी बनाने का प्रयास किया। मोक्षाकर गुप्त (११०० ई०) ने बौद्धदर्शन के दृष्टिकोण से तर्कभाषा लिखी। केशव मिश्र (१२७५ ई०) ने न्याय-वैशिषिक दर्शन के अनुसार तर्कभाषा लिखी और यशोविजयजी (१६८८ ई०) ने जैनदर्शन के अनुसार तर्कभाषा लिखी। सम्प्रदायानुसार तर्कशास्त्र तथा न्यायशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने की परम्परा आज भी बौद्धों, जैनियों और हिन्दुओं में देखी जा रही है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्रयास तार्किक नहीं है, इससे तर्क-शास्त्र का विकास नहीं हो रहा है। अतः भारतीय दार्शनिकों को न्यायशास्त्र का पुनर्वीक्षण करना है। एक ही तर्कशास्त्र है; उसका विवेचन यदि किसी विशेष सम्प्रदाय का अनुयायी अपने सम्प्रदाय के ढंग से करता है तो तर्कशास्त्र का अहित करता है।

तर्कशास्त्र एक है—इसका अर्थ यह नहीं है कि बौद्धों, जैनों या अन्य भारतीय दर्शन के अनुयायियों ने तर्क-शास्त्र में अपना विशिष्ट योगदान नहीं किया है। परन्तु अपना विशिष्ट योगदान करने पर भी कोई बौद्ध या जैन या वैदिक दर्शन का अनुयायी तर्कशास्त्र को अपने सम्प्रदाय का ही अंग बनाने में सफल नहीं हुआ है। तर्कशास्त्र की गति सभी सम्प्रदायों से गुजरती हुई भी वस्तुतः उनसे निरपेक्ष है।

इस दृष्टि से जैन न्याय के पुनर्वीक्षण की विशेष आवश्यकता है, क्योंकि जैन नैयायिकों ने मूल रूप में बौद्धों तथा न्याय-वैशेषिकों के न्याय ग्रन्थों का अनुशीलन करके उनकी समीक्षा की और एक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र तर्कशास्त्र की स्थापना का प्रयास किया। उन्होंने कहीं बौद्ध-न्याय का कोई सिद्धान्त माना तो कहीं न्याय-वैशेषिक का और कहीं अपना निजी सिद्धान्त सुझाया। इस दृष्टि से उन्होंने भारतीय न्यायशास्त्र का विकास किया जिसके परिप्रेक्ष्य में जैन न्याय का अनुशीलन करना विशेष रूप से वांछनीय है।

परन्तु अभी तक जैन-न्याय के जितने अनुशीलन हुए हैं उनमें यह भारतीय अथवा शुद्ध तार्किक दृष्टिकोण नहीं उभरा है। उन पर महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण के ग्रन्थ "ए हिस्टरी आफ इण्डियन लाजिक[1]" (भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास) का बड़ा प्रभाव रहा है। यह ग्रन्थ १९२० ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था और अब यह परवर्ती शोध-निबन्धों के द्वारा कालातीत तथा अप्रामाणिक सिद्ध हो गया है। किन्तु फिर भी इसका प्रभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समकालीन जैन नैयायिकों पर पड़ रहा है। अतः इस ग्रन्थ की भयंकर कमियों को दिखाना जैन न्याय के पुनर्वीक्षण की भूमिका तैयार करना है।

विद्याभूषणजी ने हिन्दू, जैन, बौद्ध तर्कशास्त्रों का इतिहास लिखा है। उनकी मान्यता है कि जैन तर्कशास्त्र तथा बौद्ध तर्कशास्त्र मध्ययुगीन भारतीय तर्कशास्त्र हैं और गौतमीय न्याय परम्परा प्राचीन भारतीय तर्कशास्त्र है तथा गंगेश न्याय परम्परा आधुनिक भारतीय तर्कशास्त्र है। वे कहते हैं—"प्राचीन तर्कशास्त्र प्रमाण, प्रमेय आदि १६ पदार्थों का विवेचन करता है।.....और मध्ययुगीन तर्कशास्त्र केवल एक पदार्थ अर्थात् प्रमाण का विवेचन करता है।"[२] फिर आधुनिक तर्कशास्त्र का आरम्भ उन्होंने गंगेश लिखित "तत्त्व-चिन्तामणि" से माना है और उसे तर्कशास्त्र का युग कहा है जबकि प्राचीन काल को न्यायशास्त्र का युग और मध्ययुगीन काल को प्रमाणशास्त्र का युग कहा है। आधुनिक तर्कशास्त्र में भी प्रमाण का ही विवेचन किया गया है। परन्तु मध्ययुगीन प्रमाणशास्त्र से यह इस बात में भिन्न है कि इसमें शुद्ध परिभाषा पर बहुत अधिक बल है और इस कारण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द—इन चारों प्रमाणों और उनके अंगों के विवेचन में अनेक तार्किक मतों की अवतारणा हुई है।

वास्तव में विद्याभूषण का कार्य न्यायशास्त्र के क्षेत्र में एक युग-प्रवर्तक का कार्य रहा है। उन्होंने सर्वप्रथम प्राचीन हिन्दू, जैन, बौद्ध तथा नवीन हिन्दू तर्कशास्त्रों को एकत्र किया और एक ऐतिहासिक तथा विकासात्मक दृष्टिकोण की भूमिका तैयार की। किन्तु उनका कार्य न्यायशास्त्र की एक वैसे ही डाइरेक्टरी बनाने तक सीमित रह गया जैसे दूरभाषण विभाग द्वारा टेलीफोन डाइरेक्टरी बनायी जाती है। उनके ग्रन्थ में उनके समय तक सम्यक् सात तर्कशास्त्रियों के नाम, देश, काल, ग्रन्थ, सिद्धान्त, जाति और धर्म का पता चल जाता है तथा इसके अतिरिक्त उसमें कुछ और नहीं है। आज के सन्दर्भ में उनका इतिहास या कहिए डाइरेक्टरी निस्सन्देह कालातीत और भ्रामक है। क्योंकि आज अनेक अन्य तत्त्वों का उद्घाटन हो गया है जो पहले अज्ञात थे। उदाहरण के लिए जैन तर्कशास्त्र के सम्बन्ध में उनके इतिहास की निम्नलिखित सूचनाएँ आज गलत सिद्ध हो रही हैं—

(१) वे (अभयदेवसूरि) **वादमहार्णव** नामक तार्किक ग्रन्थ तथा सन्मतितर्कसूत्र की टीका तत्त्वार्थबोध-विधायिनी के लेखक और प्रसिद्ध तर्कशास्त्री थे।[३]

आज अभयदेवसूरि की टीका प्रकाशित है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि वादमहार्णव वास्तव में सन्मति तर्कसूत्र की उनकी टीका तत्त्वार्थ-बोधविधायिनी का ही दूसरा नाम है। उसमें अनेक वादों का वर्णन किया गया है। इसलिए उसका नाम वादमहार्णव है। इस प्रकार वादमहार्णव और तत्त्वार्थबोधविधायनी दो ग्रन्थ नहीं हैं, किन्तु एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं। विद्याभूषण ने उन्हें दो ग्रन्थ समझ लिया था।

(२) बौद्धवादिविजेता मल्लवादी धर्मोत्तर टिप्पणकार मल्लवादी से अभिन्न है, ऐसा मत विद्याभूषणजी ने व्यक्त किया है।[४] किन्तु यह मत गलत है। बौद्धवादिविजेता मल्लवादी द्वादशारनयचक्र के प्रणेता हैं और उनका एक ग्रन्थ सन्मतितर्क पर भाष्य के रूप में भी था जो उपलब्ध नहीं है। किन्तु द्वादशारनयचक्र प्रकाशित है और इसके प्रणेता मल्लवादी ही जैन तर्कशास्त्र में श्रेष्ठ तार्किक के रूप में विख्यात हैं। धर्मोत्तर टिप्पण के रचयिता इन मल्लवादी से भिन्न हैं।[५] आश्चर्य है कि विद्याभूषणजी को द्वादशारनयचक्र तथा मल्लवादी कृत सन्मतितर्कप्रकरण टीका की सूचना तक नहीं है। वास्तव में उनको सन्मतितर्कप्रकरण की भी सूचना नहीं थी और न उन्होंने इस ग्रन्थ को देखा ही था। सिद्धसेन दिवाकर का यह ग्रन्थ जैन तर्कशास्त्र का एक प्रभावक ग्रन्थ माना जाता है। इन सिद्धसेन दिवाकर तथा न्याया-वतार के प्रणेता सिद्धसेन दिवाकर में अभिन्नता नहीं है।[६] किन्तु विद्याभूषणजी ने दोनों को अभिन्न कर दिया है।

(३) विद्याभूषणजी ने प्रमाणनयतत्त्वालोक और प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार को एक ही ग्रन्थ मान लिया है। परन्तु वास्तव में प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार प्रमाणनयतत्त्वालोक की टीका है। दोनों ही ग्रन्थ देवसूरि के हैं। उन्होंने अपने मूल ग्रन्थ पर स्वयं टीका लिखी है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार का ही दूसरा नाम स्याद्वादरत्नाकर है।

इस प्रकार जैन तर्कविदों के नाम, ग्रन्थ तथा काल के बारे में विद्याभूषण के इतिहास में काफी त्रुटियाँ हैं जिनको दूर करके ही उनके ग्रन्थ से लाभ उठाया जा सकता है। परन्तु तर्कशास्त्र के इतिहास को मात्र तर्कशास्त्रियों और उनके ग्रन्थों की नामावली नहीं होना चाहिए। उसको तर्कशास्त्र के स्वरूप का उद्घाटन करना चाहिए और जिस प्रक्रिया से तर्कशास्त्र का विकास होता है उसका परिचय देना चाहिए। विद्याभूषण का ग्रन्थ इन दोनों कार्यों को पूरा नहीं करता है। जैन तर्कशास्त्र का ही उदाहरण लेकर हम जान सकते हैं कि इस ग्रन्थ से जैन तर्कशास्त्र के स्वरूप और उसके विकास का ज्ञान नहीं होता है अथवा यदि उससे कुछ ज्ञान होता है तो वह बिल्कुल भ्रामक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन तर्कशास्त्र के स्वरूप के बारे में तो विद्याभूषण अत्यन्त अस्पष्ट तथा भ्रामक कथन करते हैं। वे कहते हैं—

"जैनियों के द्वारा मध्ययुगीन तर्कशास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थ जैन तर्कशास्त्र हैं।"[७] परन्तु जैनियों ने बौद्ध तर्कशास्त्र तथा हिन्दू तर्कशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। क्या ये ग्रन्थ जैन तर्कशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं? स्पष्ट है कि विद्याभूषण ने जैन तर्कशास्त्र की जो परिभाषा दी है उसके अन्दर ये ग्रन्थ भी जैन तर्कशास्त्र के अन्तर्गत हैं। किन्तु सामान्यतः इन्हें जैन तर्कशास्त्र के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता है।

स्पष्ट जानकारी के लिए यहाँ यह निर्देश करना आवश्यक है कि मल्लवादी ने धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु पर टीका लिखने वाले धर्मोत्तर की टीका पर एक टिप्पण लिखा है, कल्याणचन्द ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर एक टीका लिखी है, और हरिभद्र सूरि ने दिग्नाग के शिष्य शंकर स्वामी के न्याय-प्रवेश पर एक टीका लिखी है तथा श्रीचन्द ने उस पर एक टिप्पण लिखा है। इस प्रकार कुछ जैनियों ने बौद्धों के तर्कशास्त्र के ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं। इसी प्रकार कुछ जैनियों ने हिन्दू तर्कशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। उदाहरण के लिए, राजशेखर सूरि ने श्रीधर की न्यायकन्दली पर पंजिका नामक एक टीका लिखी है। यही नहीं, हेमचन्द्र सूरि की प्रमाण मीमांसा से पता चलता है कि वे आचार्य वात्स्यायन के अनुसार न्याय का विषय—क्षेत्र, उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा मानते हैं।[८] फिर डा० दरबारीलाल जैन कोठिया ने दिखलाया है कि दिगम्बर परम्परा के तार्किकों ने अपने तर्क-ग्रन्थों में न्याय और वैशेषिक परम्परा के पंचावयवों पर ही चिन्तन किया है, क्योंकि वे ही सबसे अधिक लोक प्रसिद्ध, चर्चित और सामान्य थे।[९] फिर जिनेश्वर सूरि ने प्रमालक्ष्यकारिका और उस पर स्वोपज्ञवृत्ति लिखकर सिद्ध किया है कि पहले श्वेताम्बर परम्परा में प्रमाणशास्त्र नहीं था और उन्होंने अपना ग्रन्थ लिखकर इस परम्परा में प्रमाणशास्त्र का शुभारम्भ किया है।[१०] इन सब तथ्यों से सिद्ध है कि जैन न्याय प्राचीन हिन्दू तथा मध्ययुगीन बौद्ध न्याय से स्वतन्त्र नहीं है। फिर हिन्दू तथा बौद्ध न्यायों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि जैनाचार्यों ने प्रायः बौद्ध न्याय का खण्डन किया है और हिन्दू न्याय का समर्थन किया है। अतएव यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि सामान्यतः जैन न्याय प्राचीन हिन्दू न्याय के ही अन्तर्गत है और प्राचीन हिन्दू न्याय की भूमिका में ही जैनियों ने कुछ अपने तार्किक सिद्धान्तों को विकसित किया है। परन्तु उनका मौलिक योगदान इतना नहीं है कि हम उनके आधार पर जैन-न्याय की कल्पना प्राचीन हिन्दू-न्याय से स्वतन्त्र या पृथक् करके कर सकें।

एक बात और है। जिस प्रकार गौतम का न्यायसूत्र प्राचीन हिन्दू न्याय का मूल ग्रन्थ है, गंगेश का तत्त्वचिन्तामणि आधुनिक हिन्दू न्याय का मूल ग्रन्थ है और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु तथा प्रमाणवार्तिक बौद्ध न्याय के मूल ग्रन्थ हैं उस प्रकार जैन न्याय का कोई मूल ग्रन्थ नहीं है। कुछ जैनाचार्यों के लिये सन्मतितर्क और कुछ के लिये न्यायावतार मूल ग्रन्थ हैं, तो कुछ के लिये माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख और कुछ के लिये अकलंक के आप्तमीमांसा और न्याय-विनिश्चय। स्वयं अकलंक समन्तभद्र की परम्परा में आते हैं। अतएव समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, वसुनन्दि, अनन्तवीर्य तथा वादिराज एक परम्परा में हैं जिन्हें हम समन्तभद्र-परम्परा कह सकते हैं, क्योंकि इन सभी लोगों ने समन्तभद्र की परम्परा में आने वाले अकलंक के ग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं। इसी प्रकार माणिक्यनन्दि की परम्परा में प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, चारुकीर्ति, अजितसेन तथा शान्तिषेण आते हैं। फिर सन्मतिकार सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा है जिसमें सुमति, मल्लवादी और अभयदेवसूरि आते हैं, तथा न्यायावतारकार सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा है जिसमें सिद्धर्षि, शान्तिसूरि और देवभद्र आते हैं। देवसूरि ने अपनी पृथक् परम्परा बनाने का प्रयास किया है जिसमें रत्नप्रभसूरि, राजशेखर और ज्ञानचन्द्र आते हैं। इन परम्पराओं से हटकर कालिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्र तथा यशोविजय जैसे स्वतन्त्र विचारक हैं। इन सभी परम्पराओं की समालोचना से स्पष्ट हो जाता है कि कई जैनियों ने न्यायशास्त्र में एक मूल ग्रन्थ लिखने का प्रयास किया। किन्तु कोई ऐसा मूल ग्रन्थ स्थिर नहीं हुआ जिसको लेकर सभी जैन तर्कविद् अपने-अपने चिन्तन का विकास करते। अतः स्पष्ट है कि जैनियों ने तर्कशास्त्र की कुछ समस्याओं पर ही अधिक चिन्तन किया है और सम्पूर्ण तर्कशास्त्र के निकाय पर उनका कोई अपना अभिमत नहीं है। सामान्यतः तर्कशास्त्र के क्षेत्र में वे गौतमीय न्याय के ही अनुयायी हैं। अतः विद्याभूषण ने जैन न्याय को गौतमीय न्याय से जो पृथक् किया है वह तर्कतः सही नहीं है और उससे जैन न्याय के स्वरूप को समझा नहीं जा सकता है।

जैन-दर्शन में मुख्यतः सन्मतिकार सिद्धसेन दिवाकर, न्यायावतारकार सिद्धसेन, अकलंक, माणिक्यनन्दि, देवसूरि तथा हेमचन्द्र तर्कशास्त्र के मूल ग्रन्थ लिखने वाले हैं। सन्मतिकार सिद्धसेन दिवाकर को अभयदेवसूरि, अकलंक को विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि को प्रभाचन्द्र, देवसूरि को रत्नप्रभसूरि तथा हेमचन्द्र को मल्लिषेण जैसे सुयोग्य और विद्वान् भाष्यकार मिल गये जिसके कारण इनके ग्रन्थों का आदर जैन-दर्शन में विशेष हो गया। इस प्रकार यद्यपि इन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन को एक मूल न्याय-ग्रन्थ देने का प्रयास किया तथापि वे सफल नहीं हुए क्योंकि प्रथमतः इनके रचित तर्कशास्त्र मूलतः गौतमीय न्याय की परम्परा में थे और द्वितीयतः इन मूलग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी पृथक् परिभाषाएँ देने का प्रयास किया जिसके कारण किसी पद की परिभाषा की एकता सम्पादित न हो सकी। उदाहरण के लिये, प्रमाण की परिभाषा जैन-दर्शन में एक नहीं है। समन्तभद्र 'स्व और पर के अवभासक' को प्रमाण कहते हैं। न्यायावतारकार इसमें 'बाध-विवर्जित' विशेषण जोड़ देते हैं। अकलंक कहते हैं "अनधिगतार्थक अविसंवादी ज्ञान" प्रमाण है। विद्यानन्द 'सम्यक् ज्ञान' को प्रमाण बताते हैं और सम्यक्ज्ञान का अर्थ "स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान" करते हैं। आचार्य माणिक्यनन्दि इसमें 'अपूर्व' जोड़कर कहते हैं कि 'स्व-अपूर्व-अर्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान' प्रमाण है। अन्ततः हेमचन्द्र 'सम्यक् अर्थनिर्णय' को प्रमाण कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक तार्किक पद की परिभाषा जैन आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। परिभाषा में एकरूपता न होने के कारण उनके यहाँ कोई सर्वमान्य प्रमाणशास्त्र न हो सका। परन्तु उन्होंने प्रमाण के नियामक तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया है जो गौतमीय न्याय के क्षेत्र में उनका एक विशिष्ट योगदान है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन तर्कविदों ने गौतमीय न्याय की समस्याओं पर अच्छा विचार किया है।

ऊपर के विवेचन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि जैन न्याय मध्ययुगीन भारतीय तर्कशास्त्र नहीं है। वह वास्तव में प्राचीन न्याय है। महावीर स्वामी (५९९-५२७ ई० पू०), प्रथम वृद्ध भद्रबाहु (ई० पू० तृतीय शती), उमास्वाति (प्रथम शती ई०), भद्रबाहु (ई० ३७५), सिद्धसेन दिवाकर (४८० ई०), समन्तभद्र (६०० ई०), अकलंक (७०० ई०), माणिक्यनन्दि (८०० ई०), मल्लवादी (८२७ ई०), हेमचन्द्र (११०० ई०), मल्लिसेन (१२९२ ई०), यशोविजय (१७वीं शती), तथा पं० सुखलाल संघवी (२०वीं शती) आदि जैन विद्वानों ने तर्कशास्त्र का चिन्तन किया है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक जैन तर्कशास्त्र का अनुशीलन हो रहा है। अतः वह मध्ययुगीन तर्कशास्त्र नहीं है। उसे आधुनिक तर्कशास्त्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नव्य न्याय का खण्डन यशोविजयजी ने किया है और प्राचीन न्याय के समर्थन में कई ग्रन्थ लिखे हैं। फिर किसी जैन आचार्य ने नव्य-न्याय के समर्थन में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है।

विद्याभूषण ने जिन जैन ग्रन्थों के आधार पर जैन तर्कशास्त्र का निरूपण किया है, वे हैं सिद्धसेन दिवाकर का 'न्यायावतार', उमास्वाति का 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र', समन्तभद्र की 'आप्तमीमांसा', माणिक्यनन्दि का 'परीक्षामुख' और देवसूरि का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार'। इन चार ग्रन्थों के अतिरिक्त शेष अन्य ग्रन्थों का केवल नामोल्लेख उन्होंने किया है। इन ग्रन्थों के विषयों का निरूपण करने में भी पुनरुक्ति-दोष है और विकासात्मक दृष्टिकोण का अभाव है। जैन तर्कशास्त्र के मनीषी जानते हैं कि जैन न्याय के श्रेष्ठ और प्रामाणिक ग्रन्थों में विद्यानन्द के अष्टसहस्री तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र आते हैं। इन ग्रन्थों की विषय-सामग्री का प्रतिपादन किये बिना जैन न्याय के मौलिक सिद्धान्तों का समझना कठिन है। विद्याभूषण के इतिहास-ग्रन्थ में इन ग्रन्थों की विषय सामग्री का लेशमात्र भी उल्लेख नहीं है। फिर अकलंक और मल्लवादी जैसे तार्किक चूड़ामणियों के विचारों का भी वहाँ उल्लेख तक नहीं है। अतः जैन तर्कशास्त्र के महत्त्वपूर्ण योगदानों की जानकारी विद्याभूषण के ग्रन्थ से नहीं हो सकती है। आचार्य सुखलाल संघवी, दलसुख मालवणिया, कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि के ग्रन्थों से यह जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

वास्तव में विद्याभूषणजी ने जो नहीं किया उसका विवरण बहुत अधिक है और उसके आधार पर उनके ग्रन्थ का मूल्यांकन करना ठीक नहीं कहा जा सकता। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसके आधार पर उसका मूल्यांकन होना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर उनके ग्रन्थ में चिन्तन और सृजन के जो कुछ बीज मिलते हैं उनमें भी उनकी अस्पष्टता तथा भूल की छाप है। स्याद्वाद और नयवाद जैन तर्कशास्त्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं। स्याद्वाद का अनुवाद उन्होंने 'May be assertion' (संभाव्य कथन)[११] किया है जो ठीक नहीं है क्योंकि स्याद्वाद प्रमाणनय है, न कि संभाव्य नय। फिर सप्तभंगी नय का अनुवाद उन्होंने Seven fold paralogism (सप्तविध परमर्थाभास)[१२] किया है जो अत्यन्त गलत है। नयवाद की व्याख्या उन्होंने कई ढंग से करने का प्रयास किया है। उमास्वाति के प्रसंग में वे नय को mood of statement (कथन का भंग या शैली) कहते हैं[१३] तथा सिद्धसेन दिवाकर के प्रसंग में वे उसे method of description या comprehension (वर्णन की शैली या ग्रहण की रीति)[१४] कहते हैं। फिर देवसूरि के प्रसंग में वे इसको केवल ग्रहण शैली कहते हैं।[१५] इन व्याख्याओं से स्पष्ट है कि नय के बारे में उनकी धारणा संपुष्ट नहीं थी। उन्होंने नयवाद और स्याद्वाद तथा नय और प्रमाण के सम्बन्धों की व्याख्या करने का भी प्रयत्न नहीं किया है। वास्तव में यदि वे नय को कथन का भंग मानकर चले होते और इस दृष्टि से नयवाद की सुसंगत व्याख्या की होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो उनका नयवाद-विवेचन अत्यन्त समीचीन होता और उसका महत्त्व जैन तर्कशास्त्र के आगामी विकास में अधिक आंका जाता। किन्तु अपनी इस नूतन दृष्टि को छोड़कर उन्होंने स्वयं एक भ्रामक और अस्पष्ट दृष्टिकोण अपनाया जिससे नयवाद का विवेचन तर्कतः ठीक नहीं हुआ है।

पुनश्च शुद्ध तर्कशास्त्र के विषयों पर भी जैन आचार्यों की जो मौलिक देने हैं उनका भी विवेचन विद्याभूषण नहीं कर पाये। उदाहरण के लिए, त्रिलक्षणक-दर्शन अर्थात् दिग्नाग के भैरूप्यवाद का खण्डन तथा हेतु को सदैव अन्यथानुपन्नत्व-रूप मानना जैन-तर्कशास्त्रियों का एक मौलिक सिद्धान्त है जिसका विवेचन जैन तर्कशास्त्र में होना आवश्यक है। परन्तु विद्याभूषण के ग्रन्थ में इसका कहीं उल्लेख तक नहीं है।

वास्तव में प्राचीन भारतीय न्यायशास्त्र तत्त्वमीमांसात्मक तर्कशास्त्र (Metaphysical logic) है और इसका मूलाधार एक वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा है। जैनदर्शन वैसे ही वस्तुवादी है जैसे न्यायदर्शन यद्यपि दोनों के वस्तुवाद में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। किन्तु तर्क के दृष्टिकोण से दोनों में तत्त्वमीमांसा और तर्कशास्त्र का एक ही सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को बौद्ध न्याय ने उलटने-पलटने का प्रयास किया और एक ऐसा तर्कशास्त्र दिया जो सिन्द्धान्ततः तत्त्वमीमांसा से स्वतन्त्र या मुक्त था। हिन्दू और जैन दोनों तर्कशास्त्रियों ने इस स्वतन्त्र तर्कशास्त्र का खण्डन किया। इस प्रकार मध्ययुग में बौद्ध तर्कशास्त्र के खण्डन के रूप में दोनों में पर्याप्त एकता हो गयी।

किन्तु विद्याभूषण के इतिहास में इस खण्डन तथा खण्डन-साम्य का वर्णन तक नहीं है। उन्होंने यह भ्रान्त धारणा मान ली है कि तत्त्वमीमांसा-भेद से तर्कशास्त्र-भेद हो जाता है और प्राचीन हिन्दू तर्कशास्त्र, जैन तर्कशास्त्र तथा बौद्ध तर्कशास्त्र एक-दूसरे से पृथक् हैं। भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास लिखने वाले वे प्रथम व्यक्ति हैं। अतः उनकी दृष्टि में भारतीय तर्कशास्त्र के संप्रत्यय का न आना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि आदि से अन्त तक साम्प्रदायिक बनी रह गई है और वे सम्प्रदाय निरपेक्ष भारतीय तर्कशास्त्र की अखण्डता और प्रगतिशीलता का प्रतिपादन न कर सके।

जैन आचार्य तर्कशास्त्र का प्रयोग अनेकान्तवाद को सिद्ध करने के लिए करते थे। वे तर्कशास्त्र को तर्कशास्त्र के लिए नहीं पढ़ते-पढ़ाते थे। उनके लिए तर्कशास्त्र तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत है। यही दृष्टि प्राचीन गौतमीय न्याय की भी है। अतएव जैन न्याय या जैन तर्कशास्त्र जैसा कोई विषय या शास्त्र नहीं है। वह गौतमीय न्यायशास्त्र का ही जैनियों द्वारा किया गया अनुशीलन है। उनका कोई अपना साम्प्रदायिक तर्कशास्त्र नहीं है, किन्तु यह उनका दोष न होकर गुण है ; क्योंकि उन्होंने सम्प्रदाय-निरपेक्ष होकर तर्कशास्त्र को विकसित करने का प्रयास किया।

वास्तव में जैन तर्कशास्त्रियों ने ही सर्वप्रथम सम्प्रदाय-निरपेक्ष भारतीय तर्कशास्त्र को जन्म देने का प्रयास किया। यही कारण है कि कुछ जैनियों ने गौतमीय न्याय की परम्परा के ग्रन्थों पर भाष्य लिखे तो कुछ ने बौद्ध न्याय की परम्परा के ग्रन्थों पर और कुछ ने तर्कशास्त्र के अपने-अपने मूल ग्रन्थ लिखे। सभी जैन आचार्यों के लिए कोई एक तर्क-परम्परा मान्य नहीं रही है। इस प्रकार तर्क-शास्त्र के क्षेत्र में वे साम्प्रदायिकता से मुक्त थे।

वर्तमान युग में "बौद्ध न्याय" शब्दावली का अनुकरण करके कुछ लोग "जैन न्याय" शब्दावली का प्रयोग करने लगे हैं। किन्तु यह सुष्ठु प्रयोग नहीं है क्योंकि जैन न्याय नामक कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है। वह प्राचीन भारतीय तर्कशास्त्र के अन्तर्गत है। अतएव उसको साम्प्रदायिकता का जामा पहनाना तर्कशास्त्र को उसके क्षेत्र से खींचकर विवादों के दल-दल में ले जाना है। आधुनिक युग में तत्त्वमीमांसा-निरपेक्ष जिस तर्कशास्त्र के स्वरूप का उद्घाटन हो गया है उसके अनुसार ही तथाकथित जैन न्याय का विवेचन करना उपयुक्त है।

अतः 'भारतीय न्यायशास्त्र का इतिहास' के लेखक विद्याभूषण ने तर्कशास्त्र की साम्प्रदायिकता का जो बीज बो दिया है उसको नष्ट कर देना है और आगे नहीं बढ़ने देना है। जैन-न्याय, जैनतर्कशास्त्र, जैनप्रमाणशास्त्र आदि पदावलियाँ भ्रामक हैं। जैसे जैन रामायण और बौद्ध रामायण का अर्थ रामायण से भिन्न नहीं है वरन् जैनियों तथा बौद्धों द्वारा लिखा गया रामायण है, वैसे ही न्याय और बौद्ध न्याय तथा जैन न्याय पदावलियाँ भी हैं। इनका कुछ ऐसा अर्थ करना कि जैन न्याय और बौद्ध न्याय उस न्याय से पूर्णतः वैसे ही भिन्न है जैसे जैन तत्त्वमीमांसा और बौद्ध तत्त्वमीमांसा वेदान्त की तत्त्वमीमांसा से भिन्न है, बिलकुल गलत है। निष्कर्ष यह है कि जैन न्याय, जैन तर्कशास्त्र, तथा जैन प्रमाणशास्त्र केवल संवेगात्मक परिभाषाएँ हैं और इनका वास्तविक अर्थ केवल जैन आचार्यों द्वारा किया गया तर्कशास्त्र का विवेचन है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि तर्कशास्त्र के किसी सिद्धान्त पर जैन मत की तत्त्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मीमांसा का इतना प्रभाव पड़ा है कि वह तर्कशास्त्र जैन तर्कशास्त्र हो गया है। जैन तर्कविदों ने जिन तार्किक सिद्धान्तों को विकसित किया है उनको जैनेतर तर्कविद भी विकसित कर सकते थे, विकसित किये हैं, क्योंकि इन सिद्धान्तों में जैनत्व नहीं है। उदाहरण के लिए त्रिलक्षणक दर्शन में और हेतु को एक मात्र अन्यथानुपन्नत्व-रूप मानने में जैनदर्शन का कोई सिद्धान्त निहित नहीं है। वे शुद्ध तार्किक सिद्धान्त हैं जिन्हें जैनेतर भी मानते है, मान सकते हैं।

★

बोलते क्षण

सच्चा ऑटोग्राफ

ब्यावर के कालेज में आप भाषण देकर ज्यों ही बाहर आये त्यों ही अनेक विद्यार्थियों ने आपको घेर लिया जो ऑटोग्राफ लेने के उत्सुक थे। अपनी लेखनी और डायरी आपश्री की ओर बढ़ाते हुए कहा—इसमें हमारे लिए कुछ लिख दीजिए। आपश्री ने मुस्कराते हुए कहा—मैंने जो प्रवचन में बातें कहीं हैं उन्हें ही जीवन में उतारने का प्रयास करो। यही मेरा सच्चा आटोग्राफ है।

बोलते क्षण

---

१ ए हिस्ट्री आव इण्डियन लाजिक, म० म० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, मोतीलाल बनारसीदास १९७१, पृ० १५८।

२ He was an eminent logician and author of Vadamaharnava, a treatise on logic called the Ocean of Discussions, and of a Commentary on the Sanmati-Tarka-Sutra called Tattvartha bodha Vidhyayini, पृष्ठ १९६-१९७।

३ देखिए सन्मति प्रकरण, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद १९६३ में पं० सुखलाल संघवी की प्रस्तावना, पृ० ७८।

४ ए हिस्ट्री आव इण्डियन लाजिक, पृ० १९४-१९५।

५ सन्मति प्रकरण, अनुवादक सुखलाल संघवी, प्रस्तावना पृ० ४९।

६ जैन न्याय, कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६६, पृ० १९ तथा जैनतर्कशास्त्र में अनुमान विचार, दरबारी लाल जैन कोठिया, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, एटा १९६९, परिशिष्ट ४ पृ० २८७-२८८ (दोनों सिद्धसेनों के पृथकत्व, काल-निर्णय तथा ग्रन्थ)

७ विद्याभूषण का इतिहास पृ० १५८।

८ प्रमाण मीमांसा, हेमचन्द्र, डा० सत्कारि मुकर्जी द्वारा संपादित तथा अनूदित (अँग्रेजी में)

९ जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, डा० दरबारी लाल जैन कोठिया, पृ० १८७।

१० न्यायावतारवार्तिकवृत्ति पं० दलसुख मालवणिया, टिप्पणी।

११ ए हिस्ट्री आव इण्डियन लाजिक, पृ० १६७

१२ वही, पृ० १६७

१३ वही, पृ० १७०

१४ वही, पृ० १८१

१५ वही, पृ० २०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org